18

गोद लेनेवाली माता के साथ मेरा संघर्ष (1943-44)

मैंने 1943 में विश्वविद्यालय की पढ़ाई बी. ए. पास कर के छोड़ने के बाद के कुछ पारिवारिक प्रसंगों की झाँकी पिछले पृष्ठों में दी है। परंतु 1943 और 1950 के बीच के इस काल के दो पारिवारिक संकट मेरे जीवन में ऐसे आये जिन्हें मैं आयु के अंतिम क्षण तक भी भुला नहीं पाऊँगा। इनमें से पहला आंतरिक झंझावात मुझे 1943 में झेलना पड़ा। यदि सच कहूं तो वही एक ऐसी घटना है जिसकी मेरे मन में आज तक कलक है। भगवान ने गीता में क्रोध और काम को ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु कहा है। क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य ऐसे काम कर बैठता है जिसके लिए उसे जीवन भर पश्चाताप करना पड़ता है। यथार्थ में क्रोध और काम मनुष्य के ज्ञान और विवेक पर पर्दा डाल देते है जिससे वह कोई भी अनुचित आचरण कर डालता है। मैं जिस घटना का वर्णन कर रहा हूँ उसका मूल कारण क्रोध ही था। मुझे रायसाहब द्वारा गोद लिये जाने के बाद भी अपनी माता के जीवनकाल तक मैं उसीके पास रहा। माँ की मृत्यु के साल दो साल के बाद जब मेरे पिता ने दूसरा विवाह कर लिया तभी मैं अपनी गोद लेनेवाली माँ के कक्ष में सोने लगा यद्यपि अपने स्वाभाविक पिता और ताऊ से मेरी वैसी ही निकटता रही क्योंकि सारा परिवार उस समय तक संयुक्त ही था और भवन भी एक ही था जिसकी पाकशाला में ही सभी लोग एक साथ भोजन करते थे। व्यापार तो सम्मिलित था ही। मेरी गोद लेनेवाली माँ को युवावस्था में एक पुत्री हुई थी जो तीन पुत्रियों को जन्म देकर दिवंगत हो चुकी थी। उसके पति श्री चुन्नीलालजी के दूसरा विवाह कर लेने के बाद वे तीनों नतिनियाँ मेरी माँ के द्वारा ही पाली-पोसी गयी थीं और उनके विवाह आदि भी हमारे घर से ही संपन्न हुए थे। मेरे गोद लेनेवाले पिता रायसाहब घर के मुखिया

थे अतः उनकी नतिनियों को एक प्रकार से उनकी पुत्रियों जैसा ही आदर प्राप्त था। 1941 में द्वितीय महायुद्ध के समय, हमारे परिवार की सभी स्त्रियाँ राजस्थान के मंडावा ग्राम में रहने चली गयी थीं। गया में मेरे चचेरे ताऊ राय देवीलालजी, उनकी माता और एकमात्र पुत्र प्रहलाद रहते थे। देवीलालजी का मंडावा से कोई लगाव नहीं था और बिजली सप्लाई कंपनी का काम भी वही देखते थे। मेरे ताऊजी गयाप्रसादजी बीच-बीच में गया और मंडावा आते-जाते रहते थे। उन्हें वास्तुकला में बड़ी रुचि थी। हमारी गया की हवेली और मंडावा की हवेली, कूआँ, नोहरा (अतिथिगृह) आदि उन्होंने ही खड़े होकर बनवाये थे। वहाँ के कुटुंब और कबीलेवालों से भी उनकी बड़ी घनिष्ठता थी। वे बीच-बीच में यों भी मंडावा जाते रहते थे। मैं भी विवाह के बाद विश्वविद्यालय की छुट्टियों में मंडावा ही जाया करता था क्योंकि मेरा सारा परिवार वहीं रहता था। मेरी गोद लेनेवाली माँ की तीनों नतिनियों के विवाह क्रमशः मऊनाथभंजन, एलिचपुर और कोलकाता में हुए थे। उम्र में मुझसे काफी बड़ी होते हुए भी तीनों बहिनें रिश्ते में मेरी भानजी थीं। मऊ में विवाहित मेरी बड़ी भानजी चाँदबाई के ससुराल में भाइयों में कुछ विग्रह होने के कारण वह सपरिवार मंडावा में ही हमारे साथ रहने को आ गयी थी। उसके परिवार में वह, उसके पति और तीन लड़के और दो लड़कियाँ थीं। युद्ध की परिस्थिति अंग्रेजों के पक्ष में हो जाने के बाद हमारा परिवार मंडावा से गया लौट आया और मेरी माँ के साथ ही मेरी भानजी का परिवार भी गया आ गया। उस समय तक परिवार के व्यापार का विभाजन हो गया था तथा सब के चौके भी अलग-अलग हो गये थे। मेरी भानजी चाँदबाई का परिवार हम लोगों के साथ ही रहता था। गर्मी के दिनों में एक दिन छत पर मैं अपने बिस्तर में तकिया न पाकर क्रुद्ध हो उठा और चिल्लाने लगा कि मेरा तकिया किसने लिया है। मैंने चाँदबाई से पूछा कि क्या उसने मेरा तकिया अपने लड़कों के बिस्तर में लगा दिया है। वह क्रुद्ध होकर बोली कि मैं तुम्हारी किसी वस्तु को हाथ भी नहीं लगाती हूँ। इतनी-सी बात सुनकर न जाने क्यों मैं क्रोध से उबल पड़ा और बोला कि यह घर मेरा है और वे कुल वस्तुएं जिनका वे लोग कई वर्षों से मुफ्त उपयोग कर रहे हैं, मेरी ही हैं। बात बढ़ गयी और मेरी माँ क्रुद्ध होकर मुकाबले में आ गयी और बोली कि तू कौन होता है मेरी नतिनी को

डाँटनेवाला! तू अपने माँ-बाप के पास चला जा। तेरा यहाँ कोई अधिकार नहीं है। जिस प्रकार मैं क्रोध में अपना आपा खो बैठा था उसी प्रकार माँ भी आवेश में मुझे फटकार रही थी। इस प्रकार बरसों का बना हुआ प्रेम-सौहार्द् का भवन एक क्षण में ध्वस्त हो गया। मनोवैज्ञानिक शायद यह बतायेंगे कि मेरी माँ की नतिनी के बड़े परिवार का बोझ माँ-बेटे के हमारे छोटे-से परिवार के ऊपर बहुत दिनों तक निरंतर लदे रहने के कारण मेरे अव्यक्त मन में उसका विरोध जमा होता रहा था। घर में और लोग भी समय-समय पर इसके विरुद्ध मेरे कान भरते रहते थे। यद्यपि व्यक्त मन में मैंने कभी इसे अनुचित नहीं माना था परंतु मेरे अव्यक्त मन में अवश्य इसका विरोध घनीभूत हो रहा होगा जो एक तकिये की छोटी-सी बात पर भड़क उठा। मेरी माँ ने भी दौहित्री के मोह में संभवतः पारिवारिक व्यवहार में थोड़ी अति कर दी थी। व्यावहारिक दृष्टि से मैं, मेरी पत्नी और माँ की तीन व्यक्तियों की छोटी-सी गृहस्थी में, उसे अपनी नतिनी को, पति, तीन पुत्रों और दो पुत्रियों के साथ एक ही घर में दो-तीन वर्ष की दीर्घ अवधि तक टिकाये नहीं रखना चाहिए था। सहायता दूर से भी की जा सकती थी और करनी चाहिए थी जिस बात में स्त्री होने के कारण संभवतः वह अशक्त थी। मेरे मन में कभी प्रत्यक्षतः उनकी सहायता करने का विरोध नहीं रहा हो, परंतु जब इतने निकट दो परिवार रहेंगे तो उनमें आपस में टकराहट के अवसर टाले नहीं जा सकते। सगे भाइयों में, पिता-पुत्र में और यहाँ तक कि पति-पत्नी में भी साथ रहते-रहते कभी-कभी भीषण विस्फोट हो जाते हैं जो सदा सुलझ नहीं पाते। नित्य, भाइयों का बँटवारा, पिता-पुत्र का एक दूसरे का मुँह न देखने का प्रण और पति-पत्नी का तलाक हमें देखने को मिलता है। मित्रों के बीच व्यापार में आपसी संघर्ष या मनोमालिन्य न होना तो अपवाद या आदर्श ही माना जायगा। इस तकिये की छोटी-सी घटना के उग्ररूप धारण कर लेने के बाद यदि आज की सूझबूझ मेरे पास होती तो मैं दूसरे दिन इस बात को भुलाकर पुनः पूर्ववत् रहने लगता। परंतु होनी तो कुछ और ही थी। अग्रेजी में जिसे Hind sight (पिच्छल बुद्धि) कहते हैं वह दृष्टि सही निर्णय सुझा सकती है परंतु बाद में किये गये विवेचन और चीरफाड़ से आत्मसंतोष या पछताने के सिवा और क्या लाभ हो सकता है! जो हो चुका वह तो बदल नहीं सकता। कोई दुर्घटना हो जाने पर मनुष्य बीसों प्रकार के

उससे बच सकने के विकल्प सोचता है और पछताता है परंतु उससे आगे के लिए कुछ मार्ग-दर्शन मिल सकने की संभावना के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं होता। परंतु यह भी कम लाभ नहीं है। अपनी भूल को दुहराने से बचना ही मनुष्य की बुद्धि, विवेक और अनुभव की कसौटी है। जो बुद्धिमान और भाग्यशाली होते हैं वे दूसरों की भूल से भी बहुत कुछ सीख लेते हैं। अधिकांश में तो हम केवल अपनी ही नहीं, अतीत में की गयी दूसरों की भूलों से या इतिहास से बहुत कुछ अनुभव प्राप्त करते हैं। परंतु सदा ऐसा नहीं हो पाता। यदि सदा ऐसा हो पाता और इतिहास अपने को नहीं दुहराता तो संसार आदर्श बन जाता।

अंग्रेजी में कहावत है –

Experience is a hard school but fools have no better अर्थात् अनुभव बहुत कठोर विद्यालय है परंतु मूर्खों को इससे अच्छा विद्यालय नहीं सूझता।

परंतु मूर्ख ही क्या, बड़े-बड़े पंडित, ज्ञानी और बुद्धिविशारदों से भी भूल हो ही जाती है। भूल करना अक्षम्य नहीं है। भूल से आगे की शिक्षा ग्रहण न करना ही अक्षम्य है। नेपोलियन ने जो भूल की, वही हिटलर ने की। इसमें जितने कारण गिनाये गये हैं उनमें हिटलर का क्रोधी स्वभाव भी एक प्रमुख कारण था। क्रोध मनुष्य के विवेक, ज्ञान और अनुभव पर परदा डाल देता है। मैं जो आगे वर्णन करने जा रहा हूँ उसे मैं अपनी भूल तो अवश्य मानता हूँ परंतु उससे मुझे आगे के अपने जीवन में सही रास्ते पर चलने में बहुत शिक्षा भी मिली है। मैं अपने अनुभव से इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि किसी निर्णय को लेते समय मनुष्य उस क्षण से ऊपर उठकर यह सोचने का प्रयत्न करे कि उस क्षण से 30-40 वर्ष बाद उस निर्णय का क्या परिणाम होगा या उसके नहीं रहने पर उसे किस दृष्टि से देखा जायगा तो मैं समझता हूँ वह बहुत-सी क्रोध, आवेश या लोभवश की गयी भूलों से वह बच सकता है। सत्य-अहिंसा के बाद दूसरी बात जो महात्मा गाँधी ने हमें सुझायी है, वह स्वीकारोक्ति की है। सच्चे हृदय से स्वीकारोक्ति करने से मनुष्य किये हुए कर्म के फल से छुटकारा न भी पा सके परंतु मानसिक शांति के साथ आगे के कर्मों में सुधार तो ला ही सकता है। इकबाल का शेर है –

तेरी दुआ से कज़ा तो बदल नहीं सकती
मगर है उससे ये मुमकिन कि तू बदल जाये

अब मैं आगे की घटना पर आता हूँ। 1943 में पढ़कर आने के बाद मेरे बचपन का वह वैभव स्वप्नमहल के समान विलुप्त हो चुका था। नकद रुपये के नाम पर मेरे पास एक भी पैसा नहीं था। सेंट्रल बैंक के किराये से, जो हमारे मकान के नीचे के एक भाग में आ गया था, हमारे हिस्से की रामगढ़ बस सेवा और कपड़े की एक दुकान से केवल घरखर्च चल सकता था, थोक रकम नहीं दिखाई देती थी। प्रत्यक्षतः गया चौक के हमारे विशाल भवन और नदीपार के 7 एकड़ के बाग़ तथा एक-दो मकानों के सिवा हमारे पास अन्य कोई अचल संपत्ति नहीं बची थी। परंतु ये अविभक्त थे तथा आपस में सौहार्द् नहीं होने के और संयुक्त संपत्ति रहने के कारण इनका आवास और आमोद के अतिरिक्त कोई अन्य व्यावसायिक उपयोग उन दिनों नहीं किया जा सकता था।

मेरे पास जो स्थायी, चल या ठोस संपत्ति थी वह मेरी गोद लेनेवाली माँ के पास रखे हुए स्वर्णाभूषण ही थे। उक्त आपसी तू-तू, मैं-मैं के बाद मैंने सोचा कि चूँकि मैं गोद आया हूँ अतः मुझे उसमें से आधा स्वर्ण-भाग तो मिलना ही चाहिए क्योंकि चल संपत्ति के रूप में उसीका उपयोग अपने लिए किसी व्यवसाय को प्रारंभ करने के लिए मैं कर सकता हूँ। मुझे याद नहीं है, यह अशुभ मंत्रणा मुझे किसीने सुझायी या स्वयं मेरे मन में बसे शैतान ने मेरे कान में फूँक दी थी। मैंने रात में माँ के कमरे की कोठरी में, जिसकी तिजोरी में स्वर्णाभूषण रहते थे, बाहर से ताला लगा दिया। मुझे भय हुआ कि माँ अपने सारे स्वर्णाभूषण अपनी नतिनी को और उसके पति को सौंप दे सकती है क्योंकि नतिनी की बड़ी लड़की की सगाई हो चुकी थी जिसके लिए मुझे बताया गया कि माँ ने 6-7 भरी सोने की एक लड़ नतिनी के पति को दी थी। प्रत्यक्षतः उसकी नतिनी चाँदबाई के पास निजी कोई आभूषण आदि नहीं बचे थे और यह भी समझा जाता था कि उसकी पुत्री के विवाह का व्यय माँ के पास के आभूषणों के द्वारा ही संभव होगा क्योंकि हमारे परिवार की पुरानी स्थिति तो अब थी नहीं कि माँ की तीनों नतिनियों की तरह उसकी नतिनी की पुत्री का विवाह भी सम्मिलित परिवार की ओर से किया जाता। संभवतः इन्ही सब कारणों ने मुझे इस बात के लिए प्रेरित किया जो मैंने उस कोठरी में ताला लगा दिया और माँ के सम्मुख प्रस्ताव रक्खा कि चूंकि उसने, क्रोध के आवेश में ही सही, मुझे अपने जन्मदाता पिता के पास लौट जाने को कह दिया था, इसलिए मुझे कम से कम आधा स्वर्णभाग मिल जाना चाहिए, क्योंकि

हो सकता है, वह सब वह अपनी नतिनी को सौंप दे। आज मेरी यह आशंका निर्मूल लग सकती है परंतु परस्पर विश्वास उठ जाने पर क्या नहीं हो सकता है! लोग अपने सगे पुत्र पर क्रोध करके अपनी संपत्ति दूसरों के नाम या धर्मादे में वसीयत करते देखे गये हैं। माँ पर उस झगड़े के दूसरे या तीसरे दिन इस क्रोध के आवेश के कारण लकवे का आक्रमण हो गया था जिसके कारण उसकी बोली बंद हो गयी थी और शरीर का एक भाग शून्य-सा हो गया था। फिर भी वह चलती-फिरती थी और सारी बातें समझती थी। यह तालाबंदी कई महीने चलती रही। इस घटना के बाद नतिनी का परिवार तो अलग दूसरे भाड़े के मकान में चला ही गया था और मैं, मेरी पत्नी तथा माँ अगल-बगल के कमरों में ही रहते थे तथा मेरी पत्नी माँ की सारी सेवा-सुश्रुषा भी करती थी परंतु यह तालाबंदी बनी रही। मैं रो-रोकर माँ से कहता था कि इतनी घटना के बाद कम से कम आधी स्वर्णराशि वह मुझे दे दे ताकि मैं अपने पाँवों पर खड़ा हो सकूँ और शेष का अर्धांश वह चाहे जैसे रखे और जिसे चाहे दे दे ताकि यह संघर्ष समाप्त हो तथा उसे भी शांति मिले। यदि वह समझती है कि उस स्वर्णाभूषण के लालच से ही उसकी सेवा हो सकेगी तो आधा भाग भी सेवा-प्राप्ति के लिए यथेष्ट होगा। परंतु माँ सब सुनकर मौन रहती थी। जिस स्वर्णभंडार को अपने पति के वैभवकाल में उसने संगृहीत किया था उसका विभाजन उसे स्वीकार नहीं था। उसका तर्क था कि गोद आने के कारण मकान, बगीचे, व्यवसाय और बाहर के जो भी रुपये-पैसे हैं वे तो सब मुझे मिल ही चुके हैं, यह स्वर्णभंडार उसका निजी धन है जिसे आजीवन अपने पास रखने का उसे पूर्ण अधिकार ही नहीं है, यह भी अधिकार है कि कुल स्वर्णाभूषण वह जिसे चाहे उसे दे दे। मुझे उसमें से जो मिलना है उसकी इच्छा पर निर्भर है। बात इतनी बढ़ गयी थी कि अब स्वर्ण-भंडार के विभाजन के सिवा मुझे दूसरा विकल्प नहीं सूझता था। मेरी स्थिति साँप-छछुंदर की-सी हो गयी थी। यदि मैं ताला नहीं लगा देता तो शायद झगड़े की बात आयी-गयी हो जाती और माँ उस स्वर्णराशि में से समय-समय पर भले ही थोड़ा-बहुत अपनी नतिनी को दे देती, बहुत कुछ मेरे लिए भी शेष रहता। कम-से-कम यथास्थिति तो बनी रहती। पर अब तो स्थिति बदल चुकी थी। प्रायः पाँच-छः महीने यह तनाव की स्थिति रही और माँ के कमरे में कोठरी के बाहर की एक तिजोरी पर

भी मेरी चौकसी बनी रही परंतु समस्या का समाधान नहीं निकला। कैकेई के वर माँगने के बाद दशरथ की जो मानसिक स्थिति हुई होगी वही ताला लगाने के बाद मेरी स्थिति बन गयी थी। मैं माँ के दुःख से दुःखी था और चाहता था कि किसी तरह वह आधे का बँटवारा करने पर राजी हो जाय परंतु वह टस से मस होने को तैयार नहीं थी। ताला लगाने की भूल कर चुकने के बाद उस संपत्ति में से कुछ भी पा सकने का मेरे पास बँटवारा के सिवा दूसरा विकल्प ही क्या था! यों विचार किया जाय तो माँ के गहने का एक मात्र भावी अधिकारी मैं ही था अतः माँ को उसमें से आधा अपनी मृत्यु के पूर्व देने में हिचक नहीं होनी चाहिए थी। परंतु इसका दूसरा पक्ष यह भी था कि जब सब संपत्ति मुझे ही प्राप्त होनी थी तो मैं आधे पर तुरत अधिकार करके माँ का जी क्यों दुखाना चाहता था। मनुष्य जानता है कि मृत्यु के बाद उसके शरीर को आग में फूँक दिया जायगा परंतु क्या जीवनकाल में सुई चुभने की पीड़ा भी वह झेलना चाहता है! भारतीय स्त्रियों के पास उन दिनों अपने आभूषण ही एक मात्र निजी धन होते थे जिन्हें स्त्रीधन के रूप में वैधानिक मान्यता भी प्राप्त थी। स्त्रियों का मोह भी आभूषणों पर सब से अधिक होता है और उनका जोर भी उन्हीं पर चलता है। गाढ़े में वही उनके काम भी आता है। अतः वे उसे छोड़ना नहीं चाहती हैं और उसमें से अत्यंत संकट के समय ही थोड़ा-बहुत निकालती हैं। माँ का अपने उस स्त्रीधन पर मोह बहुत स्वाभाविक था और दत्तक पुत्र होने के नाते बाहरी संपत्ति का स्वामी बन जाने के बाद उस पर अपना अधिकार जताना और माँ के जीते-जी उसका बँटवारा कराने की माँग करना अनुचित ही माना जा सकता है। कम-से-कम आज तो मैं यही मानता हूँ। वारेन हेस्टिंग्स ने कितने ही भारतीय राजाओं का राज्य झूठे-सच्चे आरोप लगाकर हड़प लिया था परंतु उससे उसके प्रति उतना तीव्र आक्रोश इंग्लैंड की पार्लियामेंट में नहीं हुआ जितना अवध की बेगमों के आभूषण बरजोरी ले लेने के कारण हुआ। इस घटना के पूर्व की अपनी आर्थिक और मानसिक स्थिति मैंने पहले स्पष्ट कर दी है। वह मेरे कार्य को स्वाभाविक भले ही ठहरा दे, उचित नहीं बना सकती। माँ की पीड़ा मैं समझता था और मुझे भी उससे मानसिक यंत्रणा होती थी पर उस स्वर्णराशि का मोह सर्वथा त्याग देना मेरे लिए संभव नहीं था। बिना कुछ पाये ताला खोलने का अर्थ हो सकता था उस संपत्ति से पूरी तरह से हाथ धो लेना। आज तो

मैं समझता हूँ, यह खतरा स्वीकार करके भी मुझे ताला खोल देना चाहिए था परंतु 19 वर्ष की अल्पावस्था में यह विचार कैसे सूझता!

अंत में 5-6 महीने के बाद जहानाबाद के ठाकुरबाबू खेतान, जो हमारे परिवार के लिए देवदूत के समान थे, गया आये। मैंने उन्हें रो-रोकर अपनी स्थिति बतायी और कहा कि आप इस संकट से मेरा उद्धार करें। घर में पंचायत जुड़ी और ठाकुर बाबू के सामने मैंने माँ से पुनः निवेदन किया कि वह आधी स्वर्णराशि मुझे देने के और शेष आधी अपने पास रखने या चाहे जिसे दे देने के मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करके अपनी और मेरी मानसिक यंत्रणा को समाप्त कर दे। ठाकुर बाबू ने भी माँ को समझाया और उनकी मधुर वाणी ने जादू का असर किया। माँ ने उठकर कोठरी का ताला खोल दिया और मैंने भी अपना ताला हटा दिया। सारे स्वर्णाभूषण तौल-तौल कर दो भागों में ठाकुर बाबू ने विभक्त कर दिये तथा उनका आधा परिणाम मुझे सौंप दिया और आधा माँ को सौंप दिया जिसको उसने पुनः अपनी उसी कोठरी में रखकर अपना ताला लगा दिया। मैंने अपना स्वर्ण-भाग एक बक्से में बंद करके अपने कमरे की तिजोरी में रख लिया। इस बँटवारे के समय मेरी पत्नी उपस्थित नहीं थी क्योंकि वह गर्भवती थी और गया में इस तनाव की स्थिति में प्रथम प्रसव कराना संभव नहीं था, अतः वह कुछ समय पूर्व अपने नैहर प्रतापगढ़ चली गयी थी। बँटवारे के समय ही प्रतापगढ़ से समाचार आया कि उसने पुत्री को जन्म दिया है। ठाकुर बाबू ने हँसते हुए कहा – 'भैया, गहने तुम्हें मिल रहे हैं तो उनके व्यय का नेवता भी आ गया है।' बाद में मेरी वह पुत्री शकुंतला साढ़े तीन वर्ष की आयु में चेचक से दिवंगत हो गयी।

ठाकुरबाबू के बँटवारा कर देने के बाद और तालाबंदी समाप्त हो जाने के बाद, दूसरे या तीसरे दिन ही माँ एकाएक कोमा (अचेतावस्था) की स्थिति में चली गयी। लकवे की पीड़ा वह पिछले 5-6 महीनों से झेल ही रही थी। इस बार उसपर उसका दूसरा और भयंकर आक्रमण हुआ जिसके कारण वह सर्वथा संज्ञाशून्य हो गयी। उस अवस्था में प्रायः एक डेढ़ मास रहने के बाद उसने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार जिन स्वर्णाभूषणों का आधा भाग मैंने उसके पास उसके निजी उपयोग के लिए छोड़ा था, उसको कोठरी खोल कर पुनः देखने का भी अवसर उसे नहीं मिला। हम दोनों का कुल स्वर्ण-भंडार प्रायः छः सौ तोले था जिसका आज का मूल्य करीब 70 लाख रुपये होता है। उस समय उसका मूल्य करीब

40-50 हजार रुपये था। उसे संपूर्णतः प्राप्त करने की मुझे तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई। माँ की मृत्यु के शोक ने मुझे अपनी ही नजरों से गिरा दिया और मैं अपने को उसकी मृत्यु का उत्तरदायी मानने लगा। यदि वह अपने भाग के स्वर्णाभूषणों को पाने के बाद उनका उपयोग करने के लिए साल-छः महीने भी और जीवित रहती और मेरे लिए उसमें से कुछ भी न बचता तो भी मुझे यह दुःख न झेलना पड़ता। तालाबंदी के इस दुःखद प्रकरण की समाप्ति से मुझे जो संतोष हुआ था वह समाप्त नहीं होता और यह घटना मुझे जीवन भर व्यथित नहीं करती। माँ की मृत्यु ने उसे शहीद बना दिया था और मुझे अत्याचारी। अपनी दृष्टि में मैं सदा के लिए अपने इस कृत्य के कारण दोषी और कलंकित बन गया था।

फिर भी, इस घटना पर पुनर्विचार करता हूँ तो लगता है कि भगवान ने इसमें भी मेरी रक्षा ही की है। यदि ठाकुर बाबू के आने के पूर्व बँटवारा हुए बिना माँ चली जाती तो मेरे शोक का अंत ही नहीं रहता। वह धन मुझे मिला तो अवश्य परंतु यह जीवन भर की मानसिक यंत्रण देकर। संभवतः इसी लिए महाभारत मे कहा है – **न छित्वा पर मर्माणि, न कृत्वा कर्म अशोभनं, न हत्वा मत्स्यघातीव प्राप्यते महतो धनम्** अर्थात – दूसरे के मर्म का छेदन किये बिना, तथा अनुचित कर्म किये बिना, मछेरा जैसे मछलियों को मारता है वैसे दूसरों की गर्दन मरोड़े बिना, खूब धन नहीं पाया जा सकता। सोने में कलियुग के निवास की बात शास्त्रकारों ने कहीं है। सोने का मुकुट सिर पर धारण करने के कारण ही परीक्षित ने मुनि के गले में मृत साँप डाल दिया जिसका दुखद परिणाम उसे झेलना पड़ा। मुझ पर भी स्वर्ण-मोह के रूप में कलियुग ही सवार हो गया था। मैंने इसके बाद ऐसी भूल से बचने का निरंतर प्रयास किया है और मानवता के ऊपर धन के प्रलोभन को दुबारा हावी नहीं होने दिया है। यही इस घटना का उज्ज्वल पक्ष कहा जा सकता है। शेक्सपीयर ने कहा है ––

There is a part of goodness in things seeming evil, would men willingly distil it out, अर्थात बुरी दिखने वाली वस्तुओं में भी कुछ भले का अंश रहता है। लोगों को चाहिए उसे छानकर निकाल लें।

मैंने प्रत्यक्ष आर्थिक हानि सहते हुए भी जीवन में कई बार To err on the right side की कहावत के अनुसार नैतिकता का मार्ग ग्रहण किया है जिसके कारण सदैव मुझे आत्मिक शांति, और आत्मबल मिलता रहा

है। आभूषणों के इस प्रकरण को मैं अपने प्रति भाग्य की विडंबना मानता हूँ। परंतु विडंबनाएं भी तो जीवन की योजना में सम्मिलित हैं। टामस हार्डी ने तो विडंबनाओं (Irony) के आधार पर ही अपने सारे उपन्यासों का ताना-बाना बुना है। यों भी देखा जाय तो, यदि विडंबनाएं, अकल्पित घटनाएं और भूलें न हों तो जीवन का नाटक ही रसहीन हो जाय। कई बार हम सोचते हैं कि यदि ऐसा होता या यदि ऐसा न होता तो क्या होता। परंतु इस 'यदि' को यदि इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखें तो लगेगा कि सारा इतिहास इस 'यदि' की कील पर घूमता है। यदि पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को हरा दिया होता, यदि राणा साँगा ने बाबर पर विजय प्राप्त कर ली होती, यदि औरंगजेब को दारा की सेना पराजित कर देती, यदि लौर्ड क्लाइव पलासी में हार जाता, सारा भारतीय इतिहास इस 'यदि' पर अवलंबित है। इसी प्रकार यदि वाटरलू में नेपोलियन जीत जाता, यदि अंग्रेजों के आगे जोर्ज वाशिंगटन की सेना के पाँव उखड़ जाते, यदि अमेरिका के गृहयुद्ध में ली की सेना विजयी हो जाती और अब्राहम लिंकन अमेरिका को दो टुकड़े होने से नहीं बचा पाता, यदि द्वितीय महायुद्ध में हिटलर विजयी हो जाता—कल्पना करते जाइए। इस 'यदि' का अंत हाथ नहीं आयेगा और यही लगेगा कि इस 'यदि' के ताले की कुंजी उस जगत—नियंता ने अपने हाथ में रख ली है। जो हुआ है और हो रहा है, सब उसकी इच्छा से ही हो रहा है और घटनाओं पर 'यदि' का प्रश्नचिह्न लगाना हमारी मूर्खता ही है।

किसी कवि की उक्ति याद आती है

What is writ is writ

would it were else.

माँ के साथ गहनों के विभाजन की यह घटना 1944 की है। इसमें मुझे जो मानसिक यंत्रणा महीनों झेलनी पड़ी उसका चित्रण मेरी उसी काल की रचना **परशुराम का पश्चाताप** में देखी जा सकती है। उस रचना के मूल में इस घटना की प्रेरणा रही है। जीवन के कटु अनुभव का विष प्रतिभा की भट्टी में पिघलकर कला का अमृत बन जाता है। शेली की स्काइलार्क कविता की यह प्रसिद्ध पंक्ति

Our sweetest songs are those

That tell of saddest thought, इसी सत्य को वाणी देती है। आगे वर्णित मसूरी के प्रेम—प्रसंग की घटना जो मेरी निष्ठुरता और दंभ

को प्रकट करती है, अज्ञात रूप से मेरे **कच-देवयानी** नामक खंडकाव्य के मूल में रही हो तो आश्चर्य नहीं, परंतु **परशुराम का पश्चाताप** में तो ज्ञात रूप से मेरी अंतर्व्यथा उस रूपक के माध्यम से व्यक्त हुई है।

मैंने अपनी पुस्तक **कंस्तूरी कुंडल बसे** में लिखा है ––

जीवन हमें इठलाने का अवसर नहीं देता है
जितना वह एक हाथ से देता है
उससे अधिक दूसरे हाथ से छीन लेता है।

इस कथन की सत्यता भी उपर्युक्त घटना से देखी जा सकती है। जीवन में पग-पग पर इसका अनुभव होता है। कौन-सी ऐसी विजय है जिसको पाने में सहस्रों सैनिकों का रक्त नहीं बहाया गया है। सिंहगढ़ की विजय के उपरांत उसकी विजय के लिए अपने वीर सेनापति तानाजी के बलिदान का समाचार सुनकर शिवाजी की प्रसिद्ध उक्ति, 'गढ़ एलो पण सिंह गेलो', कौन नहीं जानता। माँ की उस स्वर्ण राशि ने अनेक बार गाढ़े में मेरी सहायता की है और मैं नहीं जानता, उसके अभाव में मैं अपनी प्रतिष्ठा कैसे बचा पाता, परंतु उसको पाने की यंत्रणा भी मैं कभी नहीं भुला सका हूँ। कोई कुछ भी निर्णय करे, मैं इसे अपना पापकर्म और अपने चरित्र पर एक कलंक ही मानता हूँ।

मैंने अपने तालाबंदी के प्रकरण में अपने लोभ का तथा आगे वर्णित अपने गहलौर गाँव के विक्रय में अपने त्याग का चित्रण किया है। जिस स्वर्णराशि को पाने में मुझे इतना कष्ट झेलना पड़ा और अत्याचार करना पड़ा वह एक ही झोंके में समाप्त होते-होते कैसे बच गयी इसका चित्रण मैं आगे करूँगा। इसके मूल में मेरे पूर्वजन्म के किये हुए किसी पुण्य ने सहायता की हो या नहीं, यह तो मैं नहीं जानत परंतु महेशसिंह के गहलौर गाँव के प्रकरण में मैंने अपने पिता की प्रेरणा से जिस त्यागवृत्ति का परिचय दिया, उसीने आगे मेरी सहायता की, मुझे तो ऐसा ही लगता है।